निरुक्त-शास्त्र के उद्भव की पृष्ठभूमि

आचार्य शिवनारायण शास्त्री

भाषा, अग्नि और चक्र (चक्का, पहिया) ये तीन वस्तुएँ मनुष्य की अनवरत प्रवृत्त जीवनयात्रा के लिए सर्वाधिक उपयोगी उपकरण सिद्ध हुए हैं। इन तीनों में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण उपकरण है भाषा। अग्नि दैवी वस्तु है, पर उसका उपयोग मनुष्य के हित में स्वेच्छया किया जा सकता है, यह रहस्य भेदन पूर्णतः मनुष्य की अपनी कृति है। चक्र के तो आविर्भाव का पूरा ही श्रेय मनुष्य को प्राप्त है। परन्तु भाषा इस प्रकार आधे रूप में या पूर्ण रूप में मनुष्य का अपने बलबूते से किया आविष्कार नहीं है। इसे तो हमें जगत् के रचयिता ने ही सीधे प्रदान किया है। मनोगत भावों की अभिव्यक्ति के लिये बोलने की शक्ति मनुष्य को अपनी माँ प्रकृति से ही मिली है। भाषा मनुष्य के लिए तो धेनु अर्थात् उसकी इच्छा का दोहन करने वाली आनन्ददात्री देवी है :

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्ज दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ऋ. सं. ८।१००।११

मनुष्य का केवल दैनिक कार्यकलाप ही भाषा पर निर्भर नहीं है, अपितु उसका समस्त भौतिक एवम् आत्मिक अभ्युदय भाषा के बिना असम्भव ही है। भाषा के अभाव में मनुष्य के विकास की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। आदिम काल से मनुष्य ने अपनी जीवनयात्रा के सङ्घर्ष में तो भाषा का उपयोग पदे-पदे किया ही है, वह उसके द्वारा जिन अनुभवरत्नों के कण प्राप्त कर सका, उन्हें उसने अपने और आने वाली पीढ़ियों के लिये बहुमूल्य समझकर वाक् की अमर मञ्जूषा में संजो कर रखा है।[1]

मणि, काञ्चन आदि मूल्यवान् वस्तु उपयोग के लिए मञ्जूषा से एक बार निकल कर फिर वहाँ लौट कर नहीं आ सकतीं, और न आती हैं। उनका जीवन भङ्गुर है। परन्तु वाङ्मञ्जूषा में सञ्चित अनुभवरत्नराशि उसे निकल कर वहाँ अकेले ही नहीं लौटती, अपितु अपने साथ और बहुत से अपने अनुभवरत्नों को लेकर ही लौटती है। वाङ्मञ्जूषा में स्थापित देव, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण, काव्य आदि और इन सब पर टीका-प्रटीका के रूप में उपलब्ध समस्त वाङ्मय इसका ज्वलन्त निदर्शन है।

वेदों के मनीषी वाक् के, अर्थात् भाषा के इस अतिशय महत्त्व से पूर्णतया परिचित थे। तभी तो नेम भार्गव ऋषि मुखर स्वर में घोषित करते हैं :

1 द्र. वाक्यपदीय १।१२३ : अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

यद् वाग् वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्ज दुदुहे पयांसि, क्व स्विदस्याः परमं जगाम ? ॥ ऋ. सं ८ /१००/१०

तभी तो 'कवि', 'मन्त्रकृत', 'ऋषि', 'जरिता', 'स्तोमकृत्' आदि शब्दों के लिए उनके हृदय में जो आदर था, मन्त्रकृत् ऋषि होने में उस समय जो गौरव था, वह हमारे समाज के अपने देश और संस्कृति से प्रेम करने वाले व्यक्ति के हृदय में आज भी अक्षुण्ण है और स्वदेशाभिमान तथा अपनी परम्पराओं पर गौरव से मस्तक ऊँचा रखने वाले लोगों के लिए तो भविष्य में भी रहेगा। हाँ, जिसे अपने देश और संस्कृति पर अभिमान नहीं, उनके लिए हृदय में सम्मान नहीं, उस नर-देह-मार-धारी की बात हम नहीं कर रहे।

वाणी के महत्त्व को वाङ्मय जहाँ अत्यन्त ललित परोक्ष इंगित के माध्यम से समझाता है, वहाँ निरुक्त और व्याकरणशास्त्र उसे प्रखर मुखर रीति से स्पष्ट करके सामने रखते हैं।

वैदिक वाङ्मय की भाषा बहुत जटिल, गहन और विस्तृत है। लौकिक संस्कृत तो उसका दशमांश भी नहीं है। विद्वानों की तुलना के अनुसार तो वैदिक भाषा **अकूपार** है और लौकिक संस्कृत **गोष्पद**[2]। किन्तु वह भाषासमुद्र भी दैनन्दिन प्रयोग के कारण परिचित होने से उन्हें सहज, स्वाभाविक और सरल लगता था, और वे उसमें निर्भीक स्वेच्छा-विहार करते थे। परिणामतः उन्हें उस भाषा के विश्लेषण की पहले तो आवयकता ही नहीं प्रतीत हुई, यदि पड़ी भी, तो वह बहुत सामान्य थी। परन्तु काल के चरण जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, आगे आने वाली पीढ़ियाँ अपने जीवन की जययात्रा पर चलते-चलते भाषा, भाव, संस्कार और परिस्थितियों में अपने पुरखों से दूर होती गई। एक समय आया कि इन पीढ़ियों को अपने पुरखों की भाषा समझने में कष्ट होने लगा। प्राचीन सुरक्षित शब्दमञ्जूषा के रत्नों पर काल ने अपरिचय का आवरण चढ़ा दिया।

किन्तु वे मनुष्य साहसी थे, शक्ति से परिपूर्ण थे, और अपने पूर्वजों के प्रति पूर्णतः कृतज्ञ थे। वे स्वयं को अपने अतीत की भव्य परम्पराओं से विच्छिन्न होते नहीं देख सकते थे। फलतः उन्होंने अपनी पुरानी मञ्जूषा पर से काल की धूल को झाड़ा, पोंछा और कुछ इस प्रकार की व्यवस्था की कि काल की तूफानी आंधी में भी वे अनुभव रत्न कम-से-कम धूलि धूसर हों, ताकि आने वाली अनन्त पीढ़ियाँ उस

2 द्र. देवबोध, महाभारतटीका (प्रारम्भ) :
न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येवं पदं नहि न विद्यते ॥ ७ ॥
यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥ ८ ॥

अमृतवट तक स्वयं निर्विघ्न पहुँचकर अपने आपको तृप्त कर सकें। उन बुद्धिमान् मनीषियों का यह प्रयास एकाध पीढ़ी की देन नहीं, अपितु बहुत सी पीढ़ियों के सतत प्रयास का मीठा फल है। इसी प्रयास को आज हम निरुक्त-शास्त्र और व्याकरण- शास्त्र के रूप में जानते -पहिचानते हैं।

मनुष्य अपने मन के अमूर्त भाव को जब बाहर सम्प्रेषण करता है, तो वह उसे शब्द के खोल में बैठाता है[3], और यह शब्द का खोल भी वह कुछ समझ कर, कुछ उपपत्ति होने पर, ही काम में लाता है। उसी समझ या उपपत्ति को ढूंढने का नाम है निर्वचन और उसका विकसित, वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निश्चय करने पर जो रूप निखर- उभरकर सामने आता है, उसे कहते हैं निरुक्त-शास्त्र। अर्थात् आप जो कुछ बोल रहे है वह उन शब्दों में ही क्यों बोल रहे हैं ? क्या उन शब्दों और उनके अर्थ का मूर्त जगत् में कोई सम्बन्ध है ? या विशुद्ध सङ्केत (Convention) हो इसका आधार है ? आपने डाली पर लगी हुई, मुस्कराती कली देखी, तो आप कह उठे कुड्मल, और जब वह खिलखिला कर हँस पड़ी, तो आप कह उठे पुष्प। आखिर ऐसा क्यों ? यही आदिम जिज्ञासा निर्वचन की माँ है, जो वैदिक ऋषि को **अग्निरग्रिय:**[4] कहने को बाध्य करती है। इसी के उत्तर में निरुक्त प्रक्रिया प्रारम्भ होकर एक शास्त्र के रूप में अद्भुत प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई। इसी के उत्तर में एक शाखा और आगे बढ़ी तथा व्याकरण-शास्त्र बन कर अपना सौरभ फैलाने लगी।

पुरानी भाषा दुरूह हो गयी थी। सब चाहते थे कि उसकी के ताले दुरुहता को खोलने के लिए कोई चाभी बनाई जाए। गुत्थियों को सुलझाने में प्रेरणा पाने या कोई आदर्श पद्धति खोजने को जब इधर-उधर दृष्टि डाली, तो वैदिक मञ्जूषा में ही उन्हें अपनी समस्या के समाधान की दिशा भी मिल गई।

उन्होंने पाया कि वैदिक ऋषि कुछ ध्वनि समूहों को आधार बनाकर उनसे अनेक शब्दों का प्रयोग करते थे। उन्होंने उन स्थलों का बारीकी से अध्ययन किया और निष्कर्ष निकाला कि ये आधारभूत ध्वनिसमूह किसी क्रियाविशेष को प्रकट करने वाले शब्दों में ही प्रयुक्त है। ये कुछ विकारों और रूपपरिवर्तनों के साथ कभी तो क्रिया को प्रधानता से कहते हैं, तथा कभी गौणरूप में, और कभी किसी द्रव्य की विशेषता को ही उससे बतलाते हैं, तो कभी द्रव्य को पुकारते ही उसके आधार पर हैं। इन सब

3 न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाहते। वा. प. १।१२३॥

4 द्र. ऋ. सं. ६।१६।४८ : अग्निं देवासो अग्निर्यामन्धते वृत्रहन्तमम्। शतपथब्रा. २।२।४।२ :
तदा एनमेतदग्रे देवानामजनयत तस्मादग्निः।
हिं वं नामैतद् यदग्निरिति। तथा वहीं ६।१।१।११।

बातों को देखकर उन्होंने थोड़ा और आगे बढ़ कर द्रव्यवाचक सब पदों का आधार क्रिया ही है तथा वे पद क्रियावाचक अंशों अर्थात् धातुओं से बने हैं, यह युगान्तकारी सिद्धान्त कायम किया।

इसके लिए उन्हें सीधी प्रेरणा वैदिक संहिताओं से ही मिली। उन्होंने देखा कि अर्किरण: का अर्क से (ऋ. सं १/७/१), मघ का मंहते क्रियापद से (१/११/३), यज्ञ का अयजन्त से (१/१६४/५०), सहस् का सहन्ते से (६/६६/९). अश्विनौ का अश्नन्तौ से (८/५/३१), ऋत्विज् का ऋतु + यजाति से (१०/२/५), अग्नि के सञ्ज्ञापद नचिकेता का चिकेत से (१०/५१/४) कुछ आधेयाधार सम्बन्ध है।

इसी प्रकार जब अन्य संहिताओं की तरफ दृष्टि डाली, तो उन्हें मिला कि धान्य का धिनुहि से (वा. सं. १/२०), पवित्र का येन पुनते से (सा. सं. उत्त० ५/२/८/५), नदी का अनदत से (अथर्व. सं. ३/१३/१), आपस् का आप्नोत् से (वहीं मन्त्र सं. २), बार् का अवीवरत् से (वहीं मन्त्र सं० ३), उदक का उदानिषुः = उद् + अन् से (वहीं मन्त्र सं० ४) तीर्थ का तरन्ति से (अथवं. १८/४/७), सर्पिः का सर्पत् से (तै. सं. २/३/१०/१, काठकसं. ११/७, मंत्रा. स. २. ३/४ : ३१।१, २/३/५: ३२/१९), नवनीत का नवं नीतम् से (तै. सं. २/३/१०/१, २/३/११/२, मंत्रा. सं० २/३/४ : ३१।१) बहुत निकट का सम्बन्ध है।

उन्होंने संहिताओं में जब यह प्रवृत्ति देखी तो अपने लिए पर्याप्त मार्ग दर्शन पा लिया तथा ब्राह्मणग्रन्थों में उस प्रवृत्ति का विस्तार किया। उसी का परिणाम है कि हमें आज उपलब्ध वैदिक साहित्य में कम से कम ८३३ निर्वचन उपलब्ध हैं।

जैसा कि स्वाभाविक था ब्राह्मणों के आचार्यों ने अपने विषयों के अनुरूप शब्दों का विषय के अनुकूल निर्वचन किया। ऋग्वेदसंहिता के ब्राह्मणों में ऋग्वेद से सम्बद्ध ऋषियों, देवताओं और होता नामक ऋत्विज् से सम्बद्ध शब्दों का निर्वचन किया गया है। यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में यज्ञों, यज्ञपात्रों तथा कर्मकाण्ड के लिए उपयोगी अन्य वस्तुओं के नामपदों का निर्वचन प्रमुख रूप से किया गया है। सामवेद के ब्राह्मणों में छन्दों का ही विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ में तथा यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में बहुत से सम्बद्ध विषयमात्र से भिन्न शब्दों का भी निर्वचन किया गया है

इसी प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों में भी उनसे सम्बद्ध पदों का उपासना और ज्ञानकाण्ड के परिवेश में दार्शनिक अर्थ में निर्वचन किया गया है। क्योंकि वे शब्द उस साहित्य में दार्शनिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं

। यही कारण है कि सामन् ऋक् और गायत्री जैसे अन्यत्र अन्यथा व्याख्यात शब्दों का भी इस साहित्य में दार्शनिक अर्थ ही किया गया है [5]।

इसी परम्परा को धागे बढ़ा कर इस प्रवृत्ति को निरुक्तशास्त्र का रूप दिया आग्रायण औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थवय, कोत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिराः, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतवलाक्ष, शाकटायन और उनके पुत्र, शाकपूणि, शाकल्य, स्थौलाष्ठीवि प्रादि स्मृत तथा अनेक विस्मृत आचार्यों ने, जिनमें अन्तिम नाम आज हमें यास्क का मिलता है।

निरुक्तों की इस विशाल परम्परा के लगभग साथ-साथ भाषा के अध्ययन का विशेष जिम्मा लिया बृहस्पति, इन्द्र आदि वैयाकरण आचार्यों ने और शाकल्य आदि पदपाठकारों ने। व्याकरण के प्रणेता आचार्यों की उस लम्बी परम्परा में पाणिनि अन्तिम हैं। यद्यपि उनके बाद और भी बहुत से कम से कम १५[6] - आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से व्याकरणग्रन्थों का प्रवचन प्रणयन किया, पर वे ग्रन्थ पाणिनि के प्रभाव से अछूते न रह पाने के कारण उसके आगे टिक नहीं सके।

निरुक्त और व्याकरण के सम्बन्ध में एक बात कह देना समुचित होगा। नैरुक्त और वैयाकरण दोनों उन्हें लोक में शब्द जैसे मिलते हैं उस ही स्थिति में उन पर विचार करते हैं। अपनी तरफ से न वे उसमें कुछ घटाते हैं और न बढ़ाते हैं। वे शब्दकार नहीं हैं।[7] लोक में प्रचलित शब्दों का यथावस्थित रूप में अर्थ विकास की दृष्टि से अध्ययन करके शब्दों के मूल का निश्चय करना नैरुक्तों का कार्य है. तथा शब्द के अर्थ को दृष्टि में रखते हुए ही शब्द के साधुत्व का प्रतिपादन करना वैयाकरण का कार्य है।[8] व्याकरण को बहुधा कृत्रिम उपायों का भी सहारा लेना पड़ता है।[9] जैसे दम्पति को नैरुक्त तो दम + पति का लोक प्रचलित रूप कह देगा। पर वैयाकरण ने जाया + पति दम्पति अथवा जाया के स्थान में दम् आदेश वत लाया है।[10] ऐसे ही आर्धधातुक प्रत्ययों में अस् को न आदेश का ब्रू को वच् आदेश, चक्ष् को ख्या तथा उसे क्शा आदेश[11] भी व्याकरण पद्धति की कृत्रिमता के उदाहरण हैं। इसी प्रकार आपिशलि आचार्य ने /

5 द्र. डा० फतहसिंह, दी वैदिक एटिमॉलॉजी, भूमिका, पृष्ठ a. b.
6 प्र. युधिष्ठिर मीमांसक, संस्कृत व्या. शास्त्र का इति., भाग १, सत्र अध्याय पृष्ठ ३६५ से।
7 द्र. महाभाष्य, पस्पशा, पृष्ठ ३२
8 साधुत्वज्ञानविषया संषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिवं स्मृति निबन्धनम्॥ वा. प. १।१४२॥
9 उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ वा. प. २।२३८॥
10 द्र. काशिका, २।२।३१ में जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते।
11 द्र. अष्टा० २।४।५२-५४। अस्तेर्भूः, ब्रवो वचिः, चक्षिङः ख्याञ् तथा इस पर वार्तिक ख्यादिरप्ययमादेश इष्यते।

स् (होना) मान कर पितु सार्वधातुक में लेँट्, लोँट् में गुण (अ) लिँट् तथा लँङ् में वृद्धि (आ) का आगम मानकर अस्ति, अस्तु, आस आसीत् आदि की सिद्धि की है[12], तो पाणिनि ने तथा उनसे पूर्व के ही शाकटायन, गार्ग्य और निरुक्तकार यास्क ने अस् मान कर निवृत्तिस्थानों में अकारलोप करके स्तः आदि की सिद्धि की है। यह व्यवस्थाभेद कृत्रिमता को ही सिद्ध करता है। व्याकरण में जहां स्वर-संस्कार प्रमुख है, वहां निर्वचन में वह नितराम् उपेक्षणीय है।

तुलना करें : वा. प्रा.। ख्यातेः खयौं कशौ गार्ग्यः सख्योख्यमुख्यवर्जम्।

12 द्र. महाभाष्य १/३/२२; तथा इसी सूत्र पर न्यास तथा पदमञ्जरी।